

आधुनिक (वर्तमान) परिप्रेक्ष्य में भारतीय नाटक व संगीत

डॉ. आरती श्योकन्द*

नाट्य सामुहिकता की भावना पर आधृत एक विलक्षण रंगप्रयोगात्मक मिश्रित कला है। समाज व्यवस्था राष्ट्रहित और सबसे बढ़कर मानवता की प्रतिष्ठापना के लिये सदा इसके सक्रिय योगदान का प्रयोजन पड़ा है। सभी उम्रों, वर्गों और स्तरों के लोगों को एक साथ प्रेरित-प्रभावित तथा आनन्दित करने की ऐसी क्षमता किसी अन्य विधा में है ही नहीं। इसके अतिरिक्त नाटक और रंगमंच किसी भी देश की चेतना, प्रगतिशीलता तथा संस्कृति के परिचालक होते हैं।

भारत में नाट्य मीमांसा की सुदीर्घ परम्परा रही है। आचार्य भरत का नाट्यशास्त्र भारत की सर्वसम्पन्नता का अक्षय-आलोक तो है ही, साथ ही विश्व के नाट्याचार्यों के लिये आज भी वह ईर्ष्या बना हुआ है, परन्तु युग-परिवर्तन के साथ नाट्य-चिन्तन में भी कई परिवर्तन व परिवर्धन हुये हैं। परिवर्तित लोकमानस की उपेक्षा करना रंगकर्मियों के लिये सम्भव नहीं है, वैसा करना वांछनीय भी नहीं है। तात्पर्य यह है कि आदि नाट्यशास्त्र ही महत्ता को स्वीकार करने के साथ की नये नाट्यालोचन की आवश्यकता पड़ती गयी, क्योंकि अत्याधुनिक रंगकर्म की समीक्षा केवल प्राचीन मानदण्डों के आधार पर किसी भी रूप में सम्भव नहीं है और परम्पराओं के परिज्ञान के बिना आधुनिकता का विश्लेषण भी सम्यक ढंग से नहीं किया जा सकता अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि आधुनिक नाट्यलोचन के लिए वर्तमान युग और नव्य रंगशिल्प के परिचय के साथ-साथ सम्पूर्ण प्राचीन जीवनधारा सुदीर्घ नाट्य परम्परा से भी परिचित रहने की आवश्यकता है। अतः आज आवश्यकता है आदि नाट्यशास्त्र के और भी अधिक अध्ययन की, चिन्तन की और उसके मनन की तथा दोनों में समन्वय स्थापित करने की और तभी 'नव्य-नाट्यालोचन' की सही आदर्श स्थापित किया जा सकता है।

यद्यपि आज वर्तमान समय में युग परिवर्तन के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही है और जीवन में जटिलताओं का भी समावेश होता जा रहा है। परिणामस्वरूप आज 'नाटक' देश, काल, स्थिति के अनुसार अपनी प्राचीन सवेश्रेष्ठ विद्या के रूप में विकसित होता हुआ नवीन तथ्यों को ग्रहण कर अनेक परिवर्तन व परिवर्धन लिये आधुनिकता की ओर अग्रसित हुआ है। वस्तुतः आज नाटक का

स्वरूप ही नहीं बल्कि उसकी प्रकृति, उद्देश्य, नाम व नाट्य-गृह इत्यादि सभी में आवश्यकतानुसार परिवर्तन व परिवर्धन हुये है और हो रहे हैं।

नाटक की आधुनिक विधाएँ व संगीत:- आज आधुनिक (वर्तमान) समय में नाटक की कई विधाएँ प्रचलित दिखाई पड़ती हैं, जो इस प्रकार हैं:-

1. रंग अथवा मंच नाटक
2. रेडियो नाटक
3. फिल्मी नाटक
4. धारावाहिक या टेलीविजन नाटक
5. लोक नाटक

1. रंग अथवा मंच नाटक :- नाटक मंच से जुड़ा है। नाटक का तात्पर्य ही है-मंचित या मंचनीय नाटक। प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर 'मंच' नाटकों की प्राणप्रतिष्ठा भूमि है। हर नाटक का अपना एक मंच होता है। चाहे वह लिखित हिन्दी नाटक हो या संस्कृत के नाटक। नाटक तो वही रहता है, इनके मंच हर युग में बदलते रहते हैं। नाटक जीवन का सन्निकट ही नहीं बल्कि स्वयं का साक्षात्करण भी है। रंग नाटक श्रव्य और दृश्य दोनों है तथा मुख्यतः संवाद प्रधान है। जब इस संवाद में सजीवता बनी रहती है तभी नाटक जीवन्त हो पाता है। नाटक में जो अंश पाठ्य होता है, वह पात्रों का संवाद ही है। रंग नाटक दर्शकों के सामने निर्मित होता है। यह नाट्य अपनी प्रदर्शन अवधि में ही निर्मित होता है और जीवित रहता है। प्रदर्शन के पहले या बाद उसका अस्तित्व नहीं रहता। रंगनाटक की सार्थकता दर्शकों पर आधारित है अथवा 'दर्शक' रंग प्रदर्शन का अनिवार्य अंग होता है। दर्शक नहीं रहे तो नाटक हो ही नहीं सकता। अतः दर्शक की सहभागिता के बिना 'नाट्य' का उद्देश्य सिद्ध नहीं हो सकता। इसमें दर्शकों व अभिनेताओं के बीच प्रत्यक्ष सजीव सम्बन्ध बना रहता है। रंगनाटक के प्रदर्शन के समय रंगकर्मियों को अनेक तनाव से गुजरना पड़ता है क्योंकि उन्हें फिल्मी या धारावाहिक नाटकों की तरह बार-बार शूटिंग करने का मौका नहीं मिलता। अतः उन्हें एक ही बार में शूटिंग करने का मौका नहीं मिलता। अतः उन्हें एक ही बार में अपनी भूमिका अच्छे से निभानी पड़ती है। रंगनाटक के अभिनेता, प्रकाश-व्यवस्थापक, संगीत-निर्देशक सभी के सिर पर खतरे की तलवार लटकती रहती है। अभिनेता-अभिनेत्री सभी सावधान हैं कि उच्चारण, गति, यति, स्वरों के उतार-चढ़ाव में कोई गलती न हो जाए और सही जगह व सही समय पर संवादों, ध्वनि-प्रभाव व संगीत आए। इस प्रकार 'रंगनाटक' को दृश्य-विधान, वेशभूषा, प्रकाश-योजना, रंगोपकरण, आंगिक अभिनय, संगीत इत्यादि अनेक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। मुख्यतः रंग नाटक संवाद प्रधान नाटक है और इन संवादों को और अधिक प्रभावकारी बनाने के लिये आवश्यकतानुसार संगीत का प्रयोग करते हैं।

*सहायक प्राफेसर. संगीत एवं नृत्य विभाग कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

2. **रेडियो नाटक** :- रेडियो नाटक की प्रस्तुति में 'संगीत' एक महत्वपूर्ण उपकरण है। संगीत शास्त्र में संगीत को व्यापक रूप में देखा गया और इसमें संगीत नृत्य, गीत, वाद्य तीनों आते हैं। परन्तु रेडियो नाटक के सन्दर्भ में जब 'संगीत' का व्यवहार किया जाता है, तब उसका अर्थ मुख्यतः 'वाद्य संगीत' होता है। भावनात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता के कारण संगीत प्रारम्भ से ही नाट्य-प्रस्तुति का प्रभावशाली अंग रहा है। मात्र श्रव्यता के कारण संगीत श्रव्य नाटक के सर्वाधिक अनुकूल पड़ता है। नाट्य प्रस्तुति के दौरान इसका व्यवहार प्रोड्यूसर ही करता है। रेडियो नाटक में संगीत का व्याहार दो रूपों में होता है—स्वतन्त्र रूप में और संवादों की पृष्ठभूमि के रूप में।

संगीत का स्वतन्त्र रूप में किया गया व्यवहार नाटक के प्रारम्भ और अन्त में भी होता है, बीच-बीच में दृश्य परिवर्तन करते समय भी प्रारम्भ का संगीत नाटक की मूल संवेदना और भावनात्मक विषय-वस्तु का प्रतीक होता है। हास्य नाटक का प्रारम्भिक संगीत स्वभावतः उल्लासित और तेज स्वर का होगा, गम्भीर मनोवैज्ञानिक नाटक का उससे बिल्कुल भिन्न। यह प्रारम्भिक संगीत आगे आने वाली घटनाओं के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है, और नाटक के प्रति श्रोताओं की उत्सुकता जगाता है। अन्त का संगीत नाटक की समाप्ति की सूचना देता है, और उससे नाटक की पूर्णता का बोध होता है। इसके अतिरिक्त पृष्ठभूमि संगीत नाटक की घटनाओं के लिये परिपार्श्व प्रस्तुत करता है, ध्वनि-प्रभाव की तरह इससे भी नाटक को ठोस आधार मिलता है, और नाटक में सघनता आती है। संगीत में भावाशीपन की अदुत शक्ति है और संवादों की पृष्ठभूमि में चलने वाले संगीत से रागात्मक प्रभाव को तीव्र बनाया जा सकता है। कार्य-व्यापार की व्यंजना भी संगीत के तीव्र व्यवहार से दिखाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर प्रतीकात्मक संगीत का भी उपयोग किया जाता है। प्रतीकात्मक संगीत से तात्पर्य है—वह संगीत जो किसी विशेष स्थान, व्यक्ति या कार्य का प्रतीक हो। जैसे—शहनाई की एक धुन सुनाई पड़ती है, और विवाह सूचित हो जाता है। विशेष प्रभावों की सृष्टि के लिये संगीत का व्यवहार रेडियो नाटक में हमेशा ही किया जाता है। अतिकल्पनाओं में विशेष प्रकार के वातावरण के लिये उसका प्रयोग होता है। स्मृति-दृश्यों और स्वप्न-दृश्यों की अवतारणा में संगीत का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इसके अतिरिक्त आकाशवाणी से 'संगीत रूपक' नाम से कुछ रचनाएँ प्रसारित की जाती हैं। इस नाट्य-रूप का वैशिष्ट्य है कि इसमें संगीत की प्रधानता रहती है। संगीत से यहां तात्पर्य गीतों से है। यहां धातव्य है कि संगीत-रूपक में प्रयुक्त 'रूपक' का अर्थ न अंग्रेजी के 'फीचर' से है और न संस्कृत नाट्यशास्त्र का 'नाट्य'। यह नाम रेडियो से प्रसारित गीत-प्रधान रचनाओं के लिए रूढ़ हो गया है।

'संगीत-रूपक' होली-दीपावली आदि पर्व-त्यौहारों, विभिन्न ऋतुओं, राष्ट्रीय-उत्सवों आदि पर लिखे जाते हैं। कभी-कभी इनके माध्यम से कहानी भी कही जाती है। कवियों, संगीतकारों आदि कलाकारों और महान व्यक्तियों के जीवन और कृतित्व पर भी संगीत-रूपक लिखे जाते हैं।

3. **फिल्मी नाटक** :- फिल्मी नाटक दृश्य व श्रव्य प्रधान नाटक है, किन्तु इसमें रंगनाटक की तरह दर्शक व अभिनेताओं के बीच प्रत्यक्ष और सजीव सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि फिल्म नाटक पूर्वनिर्मित होता है, और दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। जबकि रंगनाटक तो दर्शक के सामने की पुनः निर्मित होता है। फिल्म नाटक का अस्तित्व दर्शक के अभाव में सम्भव है, क्योंकि वह पहले से ही बना हुआ है, और बाद में हॉल में वह दर्शकों के सामने प्रस्तुत किया जाता है। फिल्म नाटक में दर्शक और अभिनेता के बीच प्रत्यक्ष सामना नहीं रहता। फिल्म अभिनेता दर्शकों की उपस्थिति को नकारता हुआ अपनी भूमिका रिकार्ड करा देता है। हॉल में प्रदर्शन के समय फिल्म के विभिन्न स्थलों पर दर्शक तालियों बजाते हैं, सीटियाँ बजाते हैं, टिप्पणी करते हैं तथा कभी-कभी गालियाँ भी देते हैं, पर इन सबका फिल्म या अभिनेताओं पर बिल्कुल भी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि व अपना काम पहले ही कर चुके होते हैं। फिल्म नाटक टुकड़ों-टुकड़ों में निर्मित होता है, अभिनेता खण्ड-खण्ड करके अपनी भूमिकाएँ रिकार्ड कराता है। एक ही शूटिंग अपने बार होती है, जब तक निर्देशक अभिनेता सबको सन्तुष्टि नहीं मिल जाती और इसमें अभिनय से अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका कैमरा और संपादन की रहती है।

आज फिल्म-नाटक की सफलता व उसके निरन्तर विकास में 'संगीत' एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है। भारत में फिल्म निर्माण में संगीत के शास्त्रीय रागों के प्रवेश और उन्मेष की कहानी दिलचस्प है। सर्वप्रथम बीसवीं सदी के पूर्वसन्ध्या में फ्रांस के ल्युमियर बन्धु भारत में चलचित्र (फिल्म) का बोध लेकर आये। इस बन्धु ने 7 जुलाई 1896 को मुम्बई के वाटसन होटल में 'फिल्म' नामक एक आश्चर्यजनक दृश्यवस्तु का प्रथम प्रदर्शन प्रस्तुत किया था। फिल्म विद्या का भारत में यह प्रथम प्रदर्शन प्रस्तुत किया था। यही से फिल्म नाटक का दौर प्रारम्भ होकर विकसित होता गया। इसके पश्चात दादा साहब फाल्के ने 1910 में पहली बार अमेरिकी मूक फिल्म 'लाइफ ऑफ क्रिसमस' देखा था और तभी से वे फिल्म बनाने के लिये प्रेरित हुये और लगभग 1932 तक मूल फिल्में बनाते चले गये। उनकी अन्तिम मूक फिल्म थी—'सेतुबन्धन'। उन्होंने बोलती यानी सवाक् फिल्म भी बनायी थी, जिसका नाम था—गंगावतरण। मूक फिल्म के इस दौर में संगीत या पार्श्व संगीत की स्थिति तो थी किन्तु यह स्थिति विचित्र और दिलचस्प थी। पार्श्व गायन चलचित्र-प्रदर्शन के दौरान थियेटर में ही होता था। स्पष्टतः यह पार्श्व नहीं प्रत्यक्ष गायन था।

हमारे यहां तो भारत में फिल्म की शुरुआत निर्वाक फिल्मों से हुई, किन्तु 1931 तक भारतीय फिल्में बोलने लगी। अर्देशीर एम.ईरानी ने 1931 में प्रथम सवाक फिल्म बनायी 'आलम आरा' यही से बोलती हुई स्वभाविक फिल्मी-नाटक में संगीत की समृद्ध परम्परा विकसित होती गयी। इस प्रकार जब 1913 से 1931 तक संगीत अपनी गूंगी स्थिति के कारण छटपटा रहा था, और बोलने के लिये व्याकुल था, तब 1931 में फिल्म को वाणी मिलते ही वह यानी फिल्म संगीत अपनी अठारह वर्षों के कैद से मुक्त होकर फूट पड़ा, इसका उदाहरण बनी फिल्म 'इन्दरसभा' जिसमें कुल इकहत्तर गाने थे जो अब तक का रिकार्ड है।

इसके पश्चात् 1951 में पहली रंगीन फिल्म आयी 'आन' (राजकपूर) फिर दूसरी रंगीन फिल्म आयी 'झांसी की रानी' 1953 में। इस प्रकार 1951 से 1960 तक की फिल्में मुख्य रूप से संगीत प्रधान थी। यह दौर ही राजकपूर, दिलीप कुमार, देव आनन्द और गुरु दत्त का था। यह वही दौर था, जब फिल्मों का ध्यान शुद्ध राग संगीत की ओर गया। यद्यपि फिल्मी संगीत के आभ्यन्तर में राग मिश्र रूप में तो थे ही, किन्तु ऐसी कोई फिल्म नहीं बनी थी, ऐसा कोई गाना नहीं रचा गया था जो बिल्कुल शास्त्रीय संगीत पर आधारित हो, जिससे की उन्हें सुनकर राग की शुद्ध शास्त्रीयता की ओर ध्यान जाए। अतः ऐसी स्थिति में सर्वप्रथम 1952 में प्रदर्शित फिल्म 'बैजू बावरा' में संगीतकार नौशाद अली ने शास्त्रीय संगीत का भरपूर प्रयोग किया क्योंकि कथानक ही शास्त्रीय संगीत पर आधारित था। इसे ही आगे चलकर फिल्म 'बसन्त बहार' में दोहराया गया, जिसमें पण्डित भीमसेन जोशी ने मन्ना डे के साथ गीत 'केतकी गुलाब जुही चम्पक बन फूले' में अपना स्वर दिया।

4. धारावाहिक या टेलीविजन नाटक:— धारावाहिक नाटक भी फिल्म नाटक की तरह दृश्य व श्रव्य दोनों तथा पूर्व निर्मित होते हैं। जिसका मंचन प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष होता है, जो टी0वी0 अथवा टेलीविजन पर प्रसारित किया जाता है। धारावाहिक नाटक कई किस्तों में प्रसारित किये जाते हैं। नाटक सम्बंधी जो बातें कही गयी हैं वे इन पर भी लागू होती हैं, परन्तु कुछ एक बातें इनके सम्बन्ध में अलग से भी कही जा सकती हैं। इस दृष्टि से ये अपने आप में स्वतन्त्र होती हैं। आज के धारावाहिक अथवा सीरियल नाटकों में यदि संगीत की बात करें तो वह उसका एक महत्वपूर्ण अंग बन गयी है। आज टी0वी0 दूरदर्शन पर जितने भी धारावाहिक प्रसारित किये जाते हैं, उनकी शुरुआत उस नाटयाधारित 'गीत' से ही होती है। प्रत्येक सीरियल (नाटक) की अपनी एक गीत (टैक) सुनिश्चित कर दी गयी है, जिसे केवल सुनकर ही उस नाटक का परिचय हो जाता है कि कौन-सा सीरियल प्रसारित हो रहा है। इसके अतिरिक्त नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक बीच-बीच में कोरस या वाद्य यन्त्रों का प्रयोग होता रहता है, जिससे नाटक और भी प्रभावशाली हो जाता है। साथ ही सांगीतिक प्रभाव दिखाने के लिये पाश्चात्य वाद्य यन्त्रों का भी खूब प्रयोग हो रहा है। नाटक में विविध परिस्थितियाँ आती रहती हैं, कभी आनन्द, खुशी तो कभी उदासी, दुःख या फिर किसी का भय। इन सभी परिस्थितियों में संगीत हमेशा एक जैसे नहीं होता। अतः भिन्न-भिन्न परिस्थितियों को उभारने के लिये संगीतकार को भी नाटक से भलीभाँति परिचित होना आवश्यक है, तभी वह उपयुक्त स्थानों पर उसके अनुकूल संगीत के ध्वनि-प्रभावों का प्रयोग करने में सक्षम हो सकेगा। अतः सीरियल अथवा धारावाहिक नाटक में 'संगीत' जिसमें मुख्य रूप में 'वाद्य-यन्त्रों' की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है।

5. लोक नाटक :— नाटक को लोक-स्वभाव का अनुकरण कहा गया है, और उसका प्राकृत रूप लोक रंगमंच पर ही प्रस्तुत होता है। लोकनाट्य वह विद्या

है, जिसमें संवादों के माध्यम से अथवा वे गीतात्मक भी हो सकते हैं, किसी रोचक विषय को प्रस्तुत किया जाता है। जिसका मुख्य उद्देश्य लोक का मनोरंजन करना होता है। लोकनाट्य लोक जीवन के अनुभव पर आधारित होता है एवं मौखिक परम्परा में लोक में प्रचलित रहता है। लोक साहित्य में लोकनाट्य एक महत्वपूर्ण विद्या है। लोक नाट्य मुख्यतः ग्रामीण जनता की वस्तु रहा है, परन्तु आज शहरों में भी लोकनाट्य तथा लोकगीत के प्रति बड़ा आकर्षण दिखाई पड़ने लगा है। लोकनाटकों की यह विशेषता होती है कि शास्त्रीय नाटकों की तुलना में लोकनाट्य में गीत, नृत्य, संगीत एवं संवादों का बहुत की सहज एवं आनन्ददायक सामन्जस्य रहता है। लोकजीवन में लोकनाट्य का अर्थ ही होता है—आनन्द एवं उल्लास के अवसर पर सामुहिक अभिव्यक्ति का सहज अनुकरण।

शेखावाटी, चिड़ावी एवं हेला जैसे दंगलों के आधार पर खेले जाने वाले राजस्थानी लोकनाट्य तथा महाराष्ट्र का 'तमाशा' तथा तमिलनाडु का 'तेरवकुतु' नामक लोकनाट्य में शास्त्रीय संगीत, गजल, कव्वालियों या लोक संगीत की प्रधानता रहती है। इस प्रकार बंगाल तथा महाराष्ट्र के नाटकों के साथ नाट्य संगीत एक अनिवार्य व सहोदर भूमिका में विकसित हुआ। महाराष्ट्र में नाट्य संगीत की परम्परा अपूर्व ढंग से समृद्ध है। इसी ने यहां नाटकों एवं संगीत तथा अभिनेता और गायक के बीच की दूरी कम कर रखी है। नाटक और संगीत यहाँ पास-पास नहीं, एकमेव है। बंगाल का लोकनाट्य 'जात्रा' तो बिना संगीत के सोचा ही नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त रामलीला और रासलीला ये उत्तर प्रदेश के दो विशिष्ट एवं अत्यन्त लोकप्रिय लोकनाट्य हैं, इनमें गीतों (संवाद) के साथ नृत्य की प्रधानता रहती है। इस प्रकार ये नृत्य संगीत प्रधान लोकनाट्य हैं जो खुले रंगमंच पर प्रस्तुत किये जाते हैं तथा राष्ट्रीय स्तर पर इन्हें अत्यन्त गौरव प्राप्त हैं।

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची :-

1. नाट्यशास्त्रम प्रथम भागात्मक - साहित्याचार्य शास्त्री श्री मधुसुधन एम.ए. एक्स डीव, फेवलटी आफ दी ओरिएण्टल लर्निंग, का.हि.वि.वि. वाराणसी।
2. नाट्यशास्त्रम चतुर्थ भागात्मक - शुक्ल शास्त्री श्री बाबु लाल, चौखम्मा पब्लिकेशन, संस्कृत संस्थान वाराणसी।
3. नाट्यशास्त्रम प्रथम भागात्मक - द्विवेदी डॉ. पारसनाथ, मनोरमा हिन्दी व्याख्या सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
4. भारतीय संगीत शास्त्र ग्रन्थ परम्परा एक अध्ययन - गुप्ता प्रो. लिपिका, दास प्रेस एण्ड पब्लिकेशन का.हि.वि.वि., वाराणसी।
5. संगीत शास्त्र चिन्तन - गुप्ता प्रो. लिपिका दास, कला प्रकाशन 2009, बी.एच.यू., वाराणसी।
6. संगीत संचयन - चौधरी सुभद्रा, कृष्ण ब्रदर्स प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, अजमेर, प्रथम संस्करण 1989।
7. संगीत विमर्श - चटर्जी गौतम, भरत (भाद्र) पूर्णिमा, 2009 वाराणसी।
8. संगीत कला विहार (पत्रिका) भरतमुनि लिखित नाट्यशास्त्र एवं उसके सांगीतिक अध्यायों का संक्षिप्त परिचय - जायसवाल राधेश्याम।
9. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक साहित्य में लोक-तत्व - भारद्वाज शैलजा।
10. रंगमंच और नाटक की भूमिका - लाल डॉ. लक्ष्मीनारायण, नेशनल पब्लिक हाउस, दिल्ली।